

नय-विचार

नयका लक्षण

अधिगमके उपायोंमें प्रमाणके साथ नयका भी निर्देश किया गया है। प्रमाण वस्तुके पूर्णरूपको ग्रहण करता है और नय प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुके एक अंशको जानता है। ज्ञाताका वह अभिप्रायविशेष नय^१ है जो प्रमाणके द्वारा जानी गयी वस्तुके एकदेशको स्पर्श करता है। वस्तु अनन्तधर्मवाली है। प्रमाणज्ञान उसे समग्रभावसे ग्रहण करता है, उसमें अंशविभाजन करनेकी ओर उसका लक्ष्य नहीं होता। जैसे 'यह घड़ा है' इन ज्ञानमें प्रमाण घड़ेको अखंड भावसे उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनन्त गुणधर्मोंका विभाग न करके पूर्णरूपमें जानता है, जब कि कोई भी नय उसका विभाजन करके 'रूपवान् घटः', 'रसवान् घटः' आदि रूपमें उसे अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार जानता है। एक बात ध्यानमें रखने की है कि प्रमाण और नय ज्ञानकी ही वृत्तियाँ हैं, दोनों ज्ञानात्मक पर्यायें हैं। जब ज्ञाताकी सकलके ग्रहणकी दृष्टि होती है तब उसका ज्ञान प्रमाण होता है और जब उसी प्रमाणसे गृहीत वस्तुको खंडशः ग्रहण करनेका अभिप्राय होता है तब वह अंशग्राही अभिप्राय नय कहलाता है। प्रमाणज्ञान नयकी उत्पत्तिके लिये भूमि तैयार करता है।

यद्यपि छद्मस्थोंके सभी ज्ञान वस्तुके पूर्णरूपको नहीं जान पाते, फिर भी जितनेको वह जानते हैं उनमें भी उनकी यदि समग्रके ग्रहणकी दृष्टि है तो वे सकलग्राही ज्ञान प्रमाण हैं और अंशग्राही विकल्पज्ञान नय। 'रूपवान् घटः' यह ज्ञान भी यदि रूपमुखेन समस्त घटका ज्ञान अखंडभावसे करता है तो प्रमाणकी ही सीमामें पहुँचता है और घटके रूप, रस आदिका विभाजन कर यदि घड़ेके रूपको मुख्यतया जानता है तो वह नय कहलाता है। प्रमाणके जाननेका क्रम एकदेशके द्वारा भी समग्रकी तरफ ही है, जब कि नय समग्र-वस्तुको विभाजित कर उसके अंशविशेषकी ओर ही शुकता है। प्रमाण चक्षुके द्वारा रूपको देखकर भी उस द्वारसे पूरे घड़ेको आत्मसात् करता है और नय उस घड़ेका विश्लेषणकर उसके रूप आदि अंशोंके जाननेकी ओर प्रवृत्त होता है? इसीलिये प्रमाणको सकलादेशी और नयको विकलादेशी कहा है। प्रमाणके द्वारा जानी गई वस्तुको शब्दकी तरंगोंसे अभिव्यक्त करनेके लिये जो ज्ञानकी रक्षान होती है वह नय है।

नय प्रमाणका एकदेश है

'नय प्रमाण है या अप्रमाण?' इस प्रश्नका समाधान 'हाँ' और 'नहीं' में नहीं किया जा सकता है? जैसे कि घड़ेमें भरे हुए समुद्रके जलको न तो समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र ही^२। नय प्रमाणसे उत्पन्न होता है, अतः प्रमाणात्मक होकर भी अंशग्राही होनेके कारण पूर्ण प्रमाण नहीं कहा जा सकता, और अप्रमाण तो वह हो ही नहीं सकता। अतः जैसे घड़ेका जल समुद्रैकदेश है असमुद्र नहीं, उसी तरह नय भी प्रमाणैकदेश है, अप्रमाण नहीं। नयके द्वारा ग्रहण की जानेवाली वस्तु भी न तो पूर्ण वस्तु कही जा सकती है और न अवस्तु; किन्तु वह 'वस्त्वैकदेश' ही हो सकती है। तात्पर्य यह कि प्रमाणसागरका वह अंश नय है जिसे

१. 'नयो ज्ञातुरभिप्रायः।'—लघो० श्लो० ५५।

'ज्ञातृणामभिसन्धयः खलु नयाः।'—सिद्धिवि०, टी०, पृ० ५१७।

२. 'नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।

नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥'—त० श्लो० १।६। नयविवरण श्लो० ६।

जाताने अपने अभिप्रायके पात्रमें भर लिया है। उसका उत्पत्तिस्थान समुद्र ही है पर उसमें वह विशालता और समग्रता नहीं है जिससे उसमें सब समा सकें। छोटे-बड़े पात्र अपनी मर्यादाके अनुसार ही तो जल ग्रहण करते हैं। प्रमाणकी रंगशालामें नय अनेक रूपों और वेशोंमें अपना नाटक रचता है।

सुनय, दुर्नय

यद्यपि अनेकान्तात्मक वस्तुके एक-एक अन्त अर्थात् धर्मोंको विषय करनेवाले अभिप्रायविशेष प्रमाणकी ही सन्तान है, पर इनमें यदि सुमेल, परस्पर प्रीति और अपेक्षा है तो ही वे मुनय हैं, अन्यथा दुर्नय। सुनय अनेकान्तात्मक वस्तुके अमुक अंशको मुख्यभावसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंका निराकरण नहीं करता; उनको ओर तटस्थभाव रखता है। जैसे बापकी जायदादमें सभी सन्तानोंका समान हक होता है और सपूत वही कहा जाता है जो अपने अन्य भाइयोंके हकको ईमानदारीसे स्वीकार करता है, उनके हड़पनेकी चेष्टा कभी भी नहीं करता, किन्तु सद्भाव ही उत्पन्न करता है, उसी तरह अनन्तधर्मा वस्तुमें सभी नयोंका समान अधिकार है और सुनय वही कहा जायगा जो अपने अंशको मुख्य रूपसे ग्रहण करके भी अन्यके अंशोंको गौण तो करे पर उनका निराकरण न करे, उनको अपेक्षा करे अर्थात् उनके अस्तित्वको स्वीकार करे। जो दूसरेका निराकरण करता है और अपना ही अधिकार जमाता है वह कलहकारो कपूतकी तरह दुर्नय कहलाता है।

प्रमाणमें पूर्ण वस्तु समाती है। नय एक अंशको मुख्य रूपसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंको गौण करता है, पर उनकी अपेक्षा रखता है, तिरस्कार तो कभी भी नहीं करता। किन्तु दुर्नय अन्यनिरपेक्ष होकर अन्यका निराकरण करता है। प्रमाण^१ 'तत् और अतत्' सभीको जानता है, नयमें 'अतत्' या 'तत्' गौण रहता है और केवल 'तत्' या 'अतत्' की प्रतिपत्ति होती है, पर दुर्नय अन्यका निराकरण करता है।^२ प्रमाण 'सत्' को ग्रहण करता है, और नय 'स्यात् सत्' इस तरह सापेक्ष रूपसे जानता है जब कि दुर्नय 'सदेव' ऐसा अवधारणकर अन्यका तिरस्कार करता है। निष्कर्ष यह कि सापेक्षता ही नयका^३ प्राण है।

आचार्य सिद्धसेनने अपने सन्मत्तिसूत्र (१।२१-२५) में कहा है कि—

“तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपव्वखपडिबद्धा ।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवन्ति सम्मत्तसब्भावा ॥”

—सन्मत्ति० १।२२

वे सभी नय मिथ्यादृष्टि हैं जो अपने ही पक्षका आग्रह करते हैं—परका निषेध करते हैं, किन्तु जब वे ही परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते हैं तब सम्यक्त्वके सद्भाववाले होते हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते हैं। जैसे अनेक प्रकारके गुणवाली वैडूर्य आदि मणियाँ महामूल्यवाली होकर भी यदि एक सूत्रमें पिरोई हुई न हों, परस्पर घटक न हों, तो 'रत्नावली' संज्ञा नहीं पा सकती, उसी तरह अपने नियत वादोंका आग्रह रखनेवाले परस्पर-निरपेक्ष नय सम्यक्त्वपनेको नहीं पा सकते, भले ही वे अपने-अपने पक्षके लिये कितने ही महत्त्वके कथों न हों। जिस प्रकार वे ही मणियाँ एक सूत्रमें पिरोई जाकर 'रत्नावली या रत्नाहार'

१. 'धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनय-दुर्नयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च । प्रमाणात्तदतत्त्वभाव-प्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च ।'—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९० ।

२. 'सदेव सत् स्यात् सदिति त्रिधाथो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः ।'—अन्ययोग्य० श्लो० २८ ।

३. 'निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ।'—आप्तमी० श्लो० १०८ ।

३१४ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

बन जाती हैं उसी तरह सभी नय परस्परसापेक्ष होकर सम्यक्पनेको प्राप्त हो जाते हैं, वे सुनय बन जाते हैं। अन्तमें वे कहते हैं—

“जे वयणिज्जवियप्पा संजुज्जंतं सु होंति एएसु ।

सा ससमयपणवणा तित्थयरासायणा अण्णा ॥” —सन्मति० १।५३

जो वचनविकल्परूपी नय परस्पर सम्बद्ध होकर स्वविषयका प्रतिपादन करते हैं, वह उनकी स्वसमय-प्रज्ञापना है तथा अन्य—निरपेक्षवृत्ति तीर्थङ्करकी आसादना है।

आचार्य कुन्दकुन्द इसी तत्त्वको बड़ी मार्मिक रीतिसे समझाते हैं—

“दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरि तु समयपडिबद्धो ।

ण दु णयपक्खं गिण्हदि किञ्चिवि णयपक्खपरिहीणो ॥”

—समयसार गाथा १४३

स्वसमयी व्यक्ति दोनों नयोंके वक्तव्यको जानता तो है, पर किसी एक नयका तिरस्कार करके दूसरे नयके पक्षको ग्रहण नहीं करता। वह एक नयको द्वितीयसापेक्षरूपसे ही ग्रहण करता है।

वस्तु जब अनन्तधर्मात्मक है तब स्वभावतः एक-एक धर्मको ग्रहण करनेवाले अभिप्राय भी अनन्त ही होंगे; भले ही उनके वाचक पृथक्-पृथक् शब्द न मिलें, पर जितने शब्द हैं उनके वाच्य धर्मोंको जाननेवाले उतने अभिप्राय तो अवश्य ही होते हैं। यानी अभिप्रायोंकी संख्याकी अपेक्षा हम नयोंकी सीमा न बाँध सकें, पर यह तो सुनिश्चितरूपसे कह ही सकते हैं कि जितने शब्द हैं उतने तो नय अवश्य हो सकते हैं; क्योंकि कोई भी वचनमार्ग अभिप्रायके बिना हो ही नहीं सकता। ऐसे अनेक अभिप्राय तो संभव हैं जिनके वाचक शब्द न मिलें, पर ऐसा एक भी सार्थक शब्द नहीं हो सकता, जो बिना अभिप्रायके प्रयुक्त होता हो। अतः सामान्यतया जितने शब्द हैं उतने^१ नय हैं।

यह विधान यह मानकर किया जाता है कि प्रत्येक शब्द वस्तुके किसी-न-किसी धर्मका वाचक होता है। इसीलिए तत्त्वार्थभाष्य (१।३४) में ‘ये नय क्या एक वस्तुके विषयमें परस्पर विरोधी तन्त्रोंके मतवाद हैं या जैनाचार्योंके ही परस्पर मतभेद हैं?’ इस प्रश्नका समाधान करते हुए स्पष्ट लिखा है कि ‘न तो ये तन्त्रान्तरीय मतवाद हैं और न आचार्योंके ही पारस्परिक मतभेद हैं?’ किन्तु जेय अर्थको जाननेवाले नाना अध्यवसाय हैं। एक ही वस्तुको अपेक्षाभेदसे या अनेक दृष्टिकोणोंसे ग्रहण करनेवाले विकल्प हैं। वे हवाई कल्पनाएँ नहीं हैं। और न शेषचिल्लोके विचार ही हैं, किन्तु अर्थको नाना प्रकारसे जाननेवाले अभिप्राय-विशेष हैं।

ये निर्विषय न होकर ज्ञान, शब्द या अर्थ किसी-न-किसीको विषय अवश्य करते हैं। इसका विवेक करना जाताका कार्य है। जैसे एक ही लोक सत्की अपेक्षा एक है, जीव और अजीवके भेदसे दो, ऊर्ध्व, मध्य और अधः के भेदसे तीन, चार प्रकारके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप होनेसे चार; पाँच अस्तिकायोंकी अपेक्षा पाँच और छह द्रव्योंकी अपेक्षा छह प्रकारका कहा जा सकता है। ये अपेक्षाभेदसे होनेवाले विकल्प हैं, मात्र मतभेद या विवाद नहीं हैं। उसी तरह नयवाद भी अपेक्षाभेदसे होनेवाले वस्तुके विभिन्न अध्यवसाय हैं।

१ “जावइया वयणपहा तावइया होंति णयवाया ।” —सन्मति० ३।४७ ।

दो नय-द्रव्याधिक और पर्यायाधिक

इस तरह सामान्यतया अभिप्रायोंकी अनन्तता होनेपर भी उन्हें दो विभागोंमें बाँटा जा सकता है— एक अभेदको ग्रहण करनेवाले और दूसरे भेदको ग्रहण करनेवाले। वस्तुमें स्वरूपतः अभेद है, वह अखंड है और अपनेमें एक मौलिक है। उसे अनेक गुण, पर्याय और धर्मोंके द्वारा अनेकरूपमें ग्रहण किया जाता है। अभेदग्राहिणी दृष्टि द्रव्यदृष्टि कही जाती है और भेदग्राहिणी दृष्टि पर्यायदृष्टि। द्रव्यको मुख्यरूपसे ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यास्तिक या अव्युच्छित्ति नय कहलाता है और पर्यायको ग्रहण करनेवाला नय पर्यायास्तिक या व्युच्छित्ति नय। अभेद अर्थात् सामान्य और भेद यानी विशेष। वस्तुओंमें अभेद और भेदकी कल्पनाके दो-दो प्रकार हैं। अभेदकी एक कल्पना तो एक अखण्ड मौलिक द्रव्यमें अपनी द्रव्यशक्तिके कारण विवक्षित अभेद है, जो द्रव्य या ऊर्ध्वतासामान्य कहा जाता है। यह अपनी कालक्रमसे होनेवाली क्रमिक पर्यायोंमें ऊपरसे नीचे तक व्याप्त रहनेके कारण ऊर्ध्वतासामान्य कहलाता है। यह जिस प्रकार अपनी क्रमिक पर्यायोंको व्याप्त करता है उसी तरह अपने सहभावी गुण और धर्मोंको भी व्याप्त करता है। दूसरी अभेद-कल्पना विभिन्नसत्ताक अनेक द्रव्योंमें संग्रहकी दृष्टिसे की जाती है। यह कल्पना शब्दव्यवहारके निर्वाहके लिए सादृश्यकी अपेक्षासे की जाती है। अनेक स्वतन्त्रसत्ताक मनुष्योंमें सादृश्यमूलक मनुष्यत्व जातिकी अपेक्षा मनुष्यत्व सामान्यकी कल्पना तिर्यक्सामान्य कहलाती है। यह अनेक द्रव्योंमें तिरछी चलती है। एक द्रव्यकी पर्यायोंमें होनेवाली एक भेदकल्पना पर्यायविशेष कहलाती है तथा विभिन्न द्रव्योंमें प्रतीत होनेवाली दूसरी भेद कल्पना व्यतिरेकविशेष कही जाती है। इस प्रकार दोनों प्रकारके अभेदोंको विषय करनेवाली दृष्टि द्रव्यदृष्टि है और दोनों भेदोंको विषय करनेवाली दृष्टि पर्यायदृष्टि है।

परमार्थ और व्यवहार

परमार्थतः प्रत्येक द्रव्यगत अभेदको ग्रहण करनेवाली दृष्टि ही द्रव्याधिक और प्रत्येक द्रव्यगत पर्याय-भेदको जाननेवाली दृष्टि ही पर्यायाधिक होती है। अनेक द्रव्यगत अभेद औपचारिक और व्यावहारिक हैं, अतः उनमें सादृश्यमूलक अभेद भी व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नहीं। अनेक द्रव्योंका भेद पारमार्थिक ही है। 'मनुष्यत्व' मात्र सादृश्यमूलक कल्पना है। कोई एक ऐसा मनुष्यत्व नामका पदार्थ नहीं है, जो अनेक मनुष्यद्रव्योंमें मोतियोंमें सूतकी तरह पिरोया गया हो। सादृश्य भी अनेकनिष्ठ धर्म नहीं हैं, किन्तु प्रत्येक व्यक्तित्वमें रहता है। उसका व्यवहार अवश्य परसापेक्ष है, पर स्वरूप तो प्रत्येकनिष्ठ ही है। अतः किन्हीं भी सजातीय या विजातीय अनेक द्रव्योंका सादृश्यमूलक अभेदसे संग्रह केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। अनन्त पुद्गलपरमाणुद्रव्योंको पुद्गलत्वेन एक कहना व्यवहारके लिए है। दो पृथक् परमाणुओंकी सत्ता कभी भी एक नहीं हो सकती। एक द्रव्यगत ऊर्ध्वतासामान्यको छोड़कर जितनी भी अभेद-कल्पनाएँ अवान्तरसामान्य या महासामान्यके नामसे की जाती हैं, वे सब व्यावहारिक हैं। उनका वस्तुस्थितिसे इतना ही सम्बन्ध है कि वे शब्दोंके द्वारा उन पृथक् वस्तुओंका संग्रह कर रही हैं। जिस प्रकार अनेकद्रव्यगत अभेद व्यावहारिक है उसी तरह एक द्रव्यमें कालिक पर्यायभेद वास्तविक होकर भी उनमें गुणभेद और धर्मभेद उस अखंड अनिर्वचनीय वस्तुको समझने-समझाने और कहनेके लिए किया जाता है। जिस प्रकार पृथक् सिद्ध द्रव्योंको हम विश्लेषणकर अलग स्वतन्त्रभावसे गिना सकते हैं उस तरह किसी एक द्रव्यके गुण और धर्मोंको नहीं बता सकते। अतः परमार्थद्रव्याधिकनय एकद्रव्यगत अभेदको विषय करता है, और व्यवहार पर्यायाधिक एकद्रव्यकी क्रमिक पर्यायोंके कल्पित भेदको। व्यवहारद्रव्याधिक अनेकद्रव्यगत कल्पित अभेदको जानता है और पर-

३१६ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

मार्थ पर्यायाधिक दो द्रव्योंके वास्तविक परस्पर भेदको जानता है। वस्तुतः व्यवहारपर्यायाधिककी सीमा एक द्रव्यगत गुणभेद और धर्मभेद तक ही है।

द्रव्यास्तिक और द्रव्याधिक

तत्त्वार्थवार्तिक (१।३३) में द्रव्याधिकके स्थानमें आनेवाला द्रव्यास्तिक और पर्यायाधिकके स्थानमें आनेवाला पर्यायास्तिक शब्द इसी सूक्ष्मभेदको सूचित करता है। द्रव्यास्तिकका तात्पर्य है कि जो एकद्रव्यके परमार्थ अस्तित्वको विषय करे और तन्मूलक ही अभेदका प्रख्यापन करे। पर्यायास्तिक एकद्रव्यकी वास्तविक क्रमिक पर्यायोंके अस्तित्वको मानकर उन्हींके आधारसे भेदव्यवहार करता है। इस दृष्टिसे अनेकद्रव्यगत पर-मार्थ भेदको पर्यायाधिक विषय करके भी उनके भेदको किसी द्रव्यको पर्याय नहीं मानता। यहाँ पर्यायशब्दका प्रयोग व्यवहारार्थ है। तात्पर्य यह है कि एकद्रव्यगत अभेदको द्रव्यास्तिक और परमार्थ द्रव्याधिक, एक-द्रव्यगत पर्यायभेदको पर्यायास्तिक और व्यवहार पर्यायाधिक, अनेक-द्रव्योंके सादृश्यमूलक अभेदको व्यवहार द्रव्याधिक तथा अनेकद्रव्यगत भेदको परमार्थ पर्यायाधिक जानता है। अनेकद्रव्यगत भेदको हम 'पर्याय' शब्दमे व्यवहारके लिए ही कहते हैं। इस तरह भेदाभेदात्मक या अनन्तधर्मात्मक ज्ञेयमें ज्ञाताके अभिप्रायानुसार भेद या अभेदको मुख्य और इतरको गौण करके द्रव्याधिक और पर्यायाधिक नयोंकी प्रवृत्ति होती है। कहाँ, कौन-सा भेद या अभेद विवक्षित है, यह समझना वक्ता और श्रोताकी कुशलतापर निर्भर करता है।

यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि परमार्थ अभेद एकद्रव्यमें ही होता है और परमार्थ भेद दो स्वतंत्र द्रव्योंमें। इसी तरह व्यावहारिक अभेद दो पृथक् द्रव्योंमें सादृश्यमूलक होता है और व्यावहारिक भेद एकद्रव्यके दो गुणों, धर्मों या पर्यायोंमें परस्पर होता है। द्रव्यका अपने गुण, धर्म और पर्यायोंसे व्यावहारिक भेद ही होता है, परमार्थतः तो उनकी सत्ता अभिन्न ही है।

तीन प्रकारके पदार्थ और निक्षेप

तीर्थकरोंके द्वारा उपदिष्ट समस्त अर्थका संग्रह इन्हीं दो नयोंमें हो जाता है। उनका कथन या तो अभेदप्रधान होता है या भेदप्रधान। जगत्में ठोस और मौलिक अस्तित्व यद्यपि द्रव्यका है और परमार्थ अर्थ-संज्ञा भी इसी गुण-पर्यायवाले द्रव्यको दी जाती है। परन्तु व्यवहार केवल परमार्थ अर्थसे ही नहीं चलता। अतः व्यवहारके लिए पदार्थोंका निक्षेप शब्द, ज्ञान और अर्थ तीन प्रकारसे किया जाता है। जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तोंकी अपेक्षा किये बिना ही इच्छानुसार संज्ञा रखना 'नाम' कहलाता है। जैसे—किसी लड़केका 'गजराज' यह नाम शब्दात्मक अर्थका आधार होता है। जिसका नामकरण हो चुका है उस पदार्थका उसीके आकारवाली वस्तुमें या अतदाकार वस्तुमें स्थापना करना 'स्थापना' निक्षेप है। जैसे—हाथीकी मूर्तिमें हाथीकी स्थापना या शतरंजके मुहरेको हाथी कहना। यह ज्ञानात्मक अर्थका आश्रय होता है। अतीत और अनागत पर्यायकी योग्यताकी दृष्टिसे पदार्थमें वह व्यवहार करना 'द्रव्य' निक्षेप है। जैसे—युवराजको राजा कहना या जिसने राजपद छोड़ दिया है उसे भी वर्तमानमें राजा कहना। वर्तमान पर्यायकी दृष्टिसे होनेवाला व्यवहार 'भाव' निक्षेप है जैसे—राज्य करनेवालेको राजा कहना।

इसमें परमार्थ अर्थ—द्रव्य और भाव हैं। ज्ञानात्मक अर्थ स्थापना निक्षेप और शब्दात्मक अर्थ नाम-निक्षेपमें गभित है। यदि बच्चा शेरके लिये रोता है तो उसे शेरका तदाकार खिलौना देकर ही व्यवहार निभाया जा सकता है। जगत्के समस्त शाब्दिक व्यवहार शब्दसे ही चल रहे हैं। द्रव्य और भाव पदार्थको

त्रैकालिक पर्यायोंमें होनेवाले व्यवहारके आधार बनते हैं। 'गजराजको बुला लाओ' यह कहनेपर इस नामक व्यक्ति ही बुलाया जाता है, न कि गजराज-हाथी। राज्याभिषेकके समय युवराज ही 'राजा साहिब' कहे जाते हैं और राज-सभामें वर्तमान राजा ही 'राजा' कहा जाता है। इत्यादि समस्त व्यवहार कहीं शब्द, कहीं अर्थ और कहीं स्थापना अर्थात् ज्ञानसे चलते हुए देखे जाते हैं।

अप्रस्तुतका निराकरण करके प्रस्तुतका बोध कराना, संशयको दूर करना और तत्त्वार्थका अवधारण करना निक्षेप-प्रक्रियाका प्रयोजन है^१। प्राचीन शैलीमें प्रत्येक शब्दके प्रयोगके समय निक्षेप करके समझानेकी प्रक्रिया देखी जाती है। जैसे—'घड़ा लाओ' इस वाक्यमें समझायेंगे कि 'घड़ा' शब्दसे नामघट, स्थापनाघट और द्रव्यघट विवक्षित नहीं, किन्तु 'भावघट' विवक्षित है। शेरके लिये रोनेवाले बालकको चुप करनेके लिये नामशेर, द्रव्यशेर और भावशेर नहीं चाहिये; किन्तु स्थापनाशेर चाहिये। 'गजराजको बुलाओ' यहाँ स्थापनागजराज, द्रव्यगजराज या भावगजराज नहीं बुलाया जाता किन्तु 'नाम गजराज' ही बुलाया जाता है। अतः अप्रस्तुतका निराकरण करके प्रस्तुतका ज्ञान करना निक्षेपका मुख्य प्रयोजन है।

तीन और सात नय

इस तरह जब हम प्रत्येक पदार्थको अर्थ, शब्द और ज्ञानके आकारोंमें बाँटते हैं तो इनके ग्राहक ज्ञान भी स्वभावतः तीन श्रेणियोंमें बँट जाते हैं—ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय। कुछ व्यवहार केवल ज्ञानाश्रयी होते हैं, उनमें अर्थके तथाभूत होनेकी चिन्ता नहीं होती, वे केवल संकल्पसे चलते हैं। जैसे—आज 'महावीर जयन्ती' है। अर्थके आधारसे चलनेवाले व्यवहारमें एक ओर नित्य, एक ओर व्यापी रूपमें चरम अभेदकी कल्पना की जा सकती है, जो दूसरी ओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्वकी दृष्टिसे अन्तिम भेदकी कल्पना। तीसरी कल्पना इन दोनों चरम कोटियोंके मध्य की है। पहली कोटिमें सर्वथा अभेद—एकत्व स्वीकार करनेवाले औपनिषद अद्वैतवादी हैं तो दूसरी ओर वस्तुकी सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्यायके ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक निरंश परमाणुवादी बौद्ध हैं। तीसरी कोटिमें पदार्थको नानारूपसे व्यवहारमें लानेवाले नैयायिक, वैशेषिक आदि हैं। चौथे प्रकारके व्यक्ति हैं भाषाशास्त्री। ये एक ही अर्थमें विभिन्न शब्दोंके प्रयोगको मानते हैं; परन्तु शब्दनय शब्दभेदसे अर्थभेदको अनिवार्य समझता है। इन सभी प्रकारके व्यवहारोंके समन्वयके लिये जैन परम्पराने 'नय-पद्धति' स्वीकार की है। नयका अर्थ है—अभिप्राय, दृष्टि, विवक्षा या अपेक्षा।

ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय

इनमें ज्ञानाश्रित व्यवहारका संकल्पमात्रग्राही नैगमनयमें समावेश होता है। अर्थाश्रित अभेद व्यवहारका, जो "आत्मैवेदं सर्वम्" "एकस्मिन् वा विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्" आदि उपनिषद्-वाक्योंसे प्रकट होता है, संग्रहनयमें अन्तर्भाव किया गया है। इससे नीचे तथा एक परमाणुकी वर्तमानकालीन एक अर्थपर्यायसे पहले होनेवाले यावत् मध्यवर्ती भेदोंको, जिनमें नैयायिक, वैशेषिकादि दर्शन हैं, व्यवहारनयमें शामिल किया गया है। अर्थकी आखिरी देश-कोटि परमाणुरूपता तथा अन्तिम काल-कोटिमें क्षणिकताको ग्रहण करनेवाली बौद्ध-दृष्टि ऋजुसूत्रनयमें स्थान पाती है। यहाँ तक अर्थको सामने रखकर भेद और अभेद कल्पित हुए हैं। अब शब्दशास्त्रियोंका नम्बर आता है। काल, कारक, संख्या तथा धातुके साथ लगनेवाले भिन्न-भिन्न उपसर्ग आदिसे प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंके वाच्य अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। इस काल-कारकादिवाचक शब्दभेदसे अर्थभेद

१. "उक्तं हि—अवगयणिवारणदटं पयदस्स परूवणाणिमित्तं च ।

संसयविणासणदटं तच्चत्थवधारणदटं च ॥"

—धवला टी० सत्प्र०

३१८ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

ग्रहण करनेवाली दृष्टिका शब्दनयमें समावेश होता है। एक ही साधनसे निष्पन्न तथा एककालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। अतः इन पर्यायवाची शब्दोंसे भी अर्थभेद माननेवाली दृष्टि समभिरूढमें स्थान पाती है। एवम्भूत नय कहता है कि जिस समय, जो अर्थ, जिस क्रियामें परिणत हो, उसी समय, उसमें तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दका प्रयोग होना चाहिये। इसकी दृष्टिसे सभी शब्द क्रियासे निष्पन्न हैं। गुणवाचक 'शुक्ल' शब्द शुचिभवनरूप क्रियासे, जातिवाचक 'अश्व' शब्द आशुगमनरूप क्रियासे, क्रियावाचक 'चलति' शब्द चलनेरूप क्रियासे और नामवाचक यदृच्छाशब्द 'देवदत्त' आदि भी 'देवने इसको दिया' आदि क्रियाओंसे निष्पन्न होते हैं। इस तरह ज्ञानाश्रयी, अर्थाश्रयी और शब्दाश्रयी समस्त व्यवहारोंका समन्वय इन नयोंमें किया गया है।

मूल नय सात

नयोंके मूल भेद सात हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत। आचार्य सिद्धसेन (सन्मति० १।४-५) अभेदग्राही नैगमका संग्रहमें तथा भेदग्राही नैगमका व्यवहारनयमें अन्तर्भाव करके नयोंके छह भेद ही मानते हैं। तत्त्वार्थभाष्यमें नयोंके मूल भेद पाँच मानकर फिर शब्दनयके तीन भेद करके नयोंके सात भेद गिनाये हैं। नैगमनयके देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी भेद भी तत्त्वार्थभाष्य (१।३४-३५) में पाये जाते हैं। षट्खंडागममें नयोंके नैगमादि शब्दान्त पाँच भेद गिनाये हैं, पर कसायपाहुडमें मूल पाँच भेद गिनाकर शब्दनयके तीन भेद कर दिये हैं और नैगमनयके संग्रहिक और असंग्रहिक दो भेद भी किये हैं। इस तरह सात नय मानना प्रायः सर्वसम्मत है।

नैगमनय^१

संकल्पमात्रको ग्रहण करनेवाला नैगमनय होता है। जैसे कोई पुरुष दरवाजा बनानेके लिये लकड़ी काटने जंगल जा रहा है। पूछनेपर वह कहता है कि 'दरवाजा लेने जा रहा हूँ।' यहाँ दरवाजा बनानेके संकल्पमें ही 'दरवाजा' व्यवहार किया गया है। संकल्प सत्में भी होता है और असत्में भी। इसी नैगमनयकी मर्यादामें अनेकों औपचारिक व्यवहार भी आते हैं। 'आज महावीर जयन्ती है' इत्यादि व्यवहार इसी नयकी दृष्टिसे किये जाते हैं। निगम गाँवोंको कहते हैं, अतः गाँवमें जिस प्रकारके ग्रामीण व्यवहार चलते हैं वे सब इसी नयकी दृष्टिसे होते हैं।

^२अकलंकदेवने धर्म और धर्मी दोनोंको गौण-मुख्यभावसे ग्रहण करना नैगमनयका कार्य बताया है। जैसे—'जीवः' कहनेसे ज्ञानादि गुण गौण होकर 'जीव द्रव्य' ही मुख्यरूपसे विवक्षित होता है और 'ज्ञानवान् जीवः' कहनेमें ज्ञान-गुण मुख्य हो जाता है और जीव-द्रव्य गौण। यह न केवल धर्मको ही ग्रहण करता है और न केवल धर्मीको ही। विवक्षानुसार दोनों ही इसके विषय होते हैं। भेद और अभेद दोनों ही इसके कार्य-क्षेत्रमें आते हैं। दो ^३धर्मोंमें, दो धर्मियोंमें तथा धर्म और धर्मीमें एकको प्रधान तथा अन्यको गौण करके ग्रहण करना नैगमनयका ही कार्य है, जबकि संग्रहनय केवल अभेदको ही विषय करता है और व्यवहारनय मात्र भेदको ही। यह किसी एकपर नियत नहीं रहता। अतः इसे (^४नैकं गमः) नैगम कहते हैं। कार्य-कारण और आधार-आश्रय आदिकी दृष्टिसे होनेवाले सभी प्रकारके उपचारोंको भी यही विषय करता है।

१. "अनभिनिवृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः।" —सर्वाथसि० १।३३।

२. लघी० स्ववृ० श्लोक ३९।

३. त० श्लोकवा० श्लो० २६९।

४. धवलाटी० सत्प्र०।

नैगमाभास

अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, सामान्य और सामान्यवान् आदिमें सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि गुण गुणीसे पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखता और न गुणोंकी उपेक्षा करके गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अतः इनमें कथंचित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही उचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् तथा सामान्य-विशेषमें भी कथंचित्तादात्म्य सम्बन्धको छोड़कर दूसरा सम्बन्ध नहीं है। यदि गुण आदि गुणी आदिसे सर्वथा भिन्न, स्वतन्त्र पदार्थ हों; तो उनमें नियत सम्बन्ध न होनेके कारण गुण-गुणीभाव आदि नहीं बन सकेंगे। कथंचित्तादात्म्यका अर्थ है कि गुण आदि गुणी आदि रूप ही हैं—उनसे भिन्न नहीं हैं। जो स्वयं ज्ञानरूप नहीं है वह ज्ञानके समवायसे भी 'ज्ञ' कैसे बन सकता है? अतः वैशेषिकका गुण आदिका गुणी आदिसे सर्वथा निरपेक्ष भेद मानना नैगमाभास है।^१

सांख्यका ज्ञान और सुख आदिको आत्मासे भिन्न मानना नैगमाभास है। सांख्यका कहना है कि त्रिगुणात्मक प्रकृतिके सुख-ज्ञानादिक धर्म हैं, वे उसीमें आविर्भूत और तिरोहित होते रहते हैं। इसी प्रकृतिके संसर्गसे पुरुषमें ज्ञानादिकी प्रतीति होती है। प्रकृति इस ज्ञानसुखादिरूप 'व्यक्तकार्यकी' दृष्टिसे दृश्य है तथा अपने कारणरूप 'अव्यक्त' स्वरूपसे अदृश्य है। चेतन पुरुष कूटस्थ—अपरिणामी नित्य है। चैतन्य बुद्धिसे भिन्न है। अतः चेतन पुरुषका धर्म बुद्धि नहीं है। इस तरह सांख्यका ज्ञान और आत्मामें सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि चैतन्य और ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। बुद्धि उपलब्धि चैतन्य और ज्ञान आदि सभी पर्यायवाची हैं। सुख और ज्ञानादिको सर्वथा अनित्य और पुरुषको सर्वथा नित्य मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि कूटस्थ नित्य पुरुषमें प्रकृतिके संसर्गसे भी बन्ध, मोक्ष और भोग आदि नहीं बन सकते। अतः पुरुषको परिणामी-नित्य ही मानना चाहिये, तभी उसमें बन्ध-मोक्षादि व्यवहार घट सकते हैं। तात्पर्य यह कि अभेद-निरपेक्ष सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।

संग्रह और संग्रहाभास

अनेक पर्यायोंको एकद्रव्यरूपसे या अनेक द्रव्योंको सादृश्य-मूलक एकत्वरूपसे अभेदग्राही संग्रह^२नय होता है। इसकी दृष्टिमें विधि ही मुख्य है। द्रव्यको छोड़कर पर्यायें ही ही नहीं। यह दो प्रकारका होता है—एक परसंग्रह और दूसरा अपरसंग्रह। परसंग्रहमें सत्त्वरूपसे समस्त पदार्थोंका संग्रह किया जाता है तथा अपरसंग्रहमें एक द्रव्यरूपसे समस्त पर्यायोंका तथा द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्योंका, गुणरूपसे समस्त गुणोंका, गोत्व-रूपसे समस्त गौओंका, मनुष्यत्वरूपसे समस्त मनुष्योंका इत्यादि संग्रह किया जाता है।

यह अपरसंग्रह तब तक चलता है जब तक भेदमूलक व्यवहार अपनी चरमकोटि तक नहीं पहुँच जाता। अर्थात् जब व्यवहारनय भेद करते-करते ऋजुसूत्रनयकी विषयभूत एक वर्तमानकालीन क्षणवर्ती अर्थ-पर्याय तक पहुँचता है यानी संग्रह करनेके लिये दो रह ही नहीं जाते, तब अपरसंग्रहकी मर्यादा समाप्त हो जाती है। परसंग्रहके बाद और ऋजुसूत्रनयसे पहले अपरसंग्रह और व्यवहारनयका समान क्षेत्र है, पर दृष्टिमें भेद है। जब अपरसंग्रहमें सादृश्यमूलक या द्रव्यमूलक अभेददृष्टि मुख्य है और इसीलिये वह एकत्व लाकर संग्रह करता है तब व्यवहारनयमें भेदकी ही प्रधानता है, वह पर्याय-पर्यायमें भी भेद डालता है। परसंग्रह-नयकी दृष्टिमें सद्व्ययसे सभी पदार्थ एक हैं, उनमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। जीव, अजीव आदि सभी सद्व्ययसे अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने अनेक नीलादि आकारोंमें व्याप्त है उसी तरह सन्मात्र

१. लघी० स्व० श्लो० ३९ ।

२. 'शुद्ध' द्रव्यमभिप्रेति संग्रहस्तदभेदतः ।—लघी० श्लो० ३२ ।

तत्त्व सभी पदार्थोंमें व्याप्त है। जीव, अजीव आदि सभी उसीके भेद हैं। कोई भी ज्ञान सन्मात्रतत्त्वको जाने बिना भेदोंको नहीं जान सकता। कोई भी भेद सन्मात्रसे बाहर अर्थात् असत् नहीं है। प्रत्यक्ष चाहे चेतन सुखादिमें प्रवृत्ति करे, या बाह्य अचेतन नीलादि पदार्थोंको जाने, वह सद्रूपसे अभेदांशको विषय करता ही है। इतना ध्यान रखनेकी वान है कि एक-द्रव्यमूलक पर्यायोंके संग्रहके सिवाय अन्य सभी प्रकारके संग्रह सादृश्यमूलक एकत्वका आरोप करके ही होते हैं और वे केवल संक्षिप्त शब्दव्यवहारकी सुविधाके लिये हैं। दो स्वतन्त्र द्रव्योंमें चाहे वे सजातीय हों या विजातीय, वास्तविक एकत्व आ ही नहीं सकता।

संग्रहनयकी इस अभेददृष्टिसे सीधी टक्कर लेनेवाली बौद्धकी भेददृष्टि है, जिसमें अभेदको कल्पनात्मक कहकर उसका वस्तुमें कोई स्थान ही नहीं रहने दिया है। इस आत्यन्तिक भेदके कारण ही बौद्ध अवयवी, स्थूल, नित्य आदि अभेददृष्टिके विषयभूत पदार्थोंकी सत्ता ही नहीं मानते। नित्यांश कालिक अभेदके आधारपर स्थिर है; क्योंकि जब वही एक द्रव्य त्रिकालानुयायी होता है तभी वह नित्य कहा जा सकता है। अवयवी और स्थूलता दैशिक अभेदके आधारसे माने जाते हैं। जब एक वस्तु अनेक अवयवोंमें कथंचित्तादात्म्यरूपसे व्याप्त रखे, तभी वह अवयवीव्यपदेश पा सकता है। स्थूलतामें भी अनेकप्रदेशव्यापित्व-रूप दैशिक अभेददृष्टि ही अपेक्षणीय होती है।

इस नयकी दृष्टिसे कह सकते हैं विश्व सन्मात्ररूप^१ है, एक है, अद्वैत है; क्योंकि सद्रूपसे चेतन और अचेतनमें कोई भेद नहीं है।

अद्वयब्रह्मवाद संग्रहाभास है, क्योंकि इसमें भेदका “नेह नानास्ति किञ्चन” (कठोप० ४।११) कहकर सर्वथा निराकरण कर दिया है। संग्रहनयमें अभेद मुख्य होनेपर भी भेदका निराकरण नहीं किया जाता, वह गौण अवश्य हो जाता है, पर उसके अस्तित्वसे इनकार नहीं किया जा सकता। अद्वयब्रह्मवादमें कारक और क्रियाओंके प्रत्यक्षसिद्ध भेदका निराकरण हो जाता है। कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत, विद्या-अविद्याद्वैत आदि सभीका लोप इस मतमें प्राप्त होता है। अतः सांप्रहिक व्यवहारके लिये भले ही परसंग्रहनय जगत्के समस्त पदार्थोंको ‘सत्’ कह ले, पर इससे प्रत्येक द्रव्यके मौलिक अस्तित्वका लोप नहीं हो सकता। विज्ञानकी प्रयोगशाला प्रत्येक अणुका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करती है। अतः संग्रहनयकी उपयोगिता अभेदव्यवहारके लिये ही है, वस्तुस्थितिका लोप करनेके लिये नहीं।

इसी तरह शब्दाद्वैत भी संग्रहाभास है। यह इसलिये कि इसमें भेदका और द्रव्योंके उस मौलिक अस्तित्वका निराकरण कर दिया जाता है, जो, प्रमाणसे प्रसिद्ध तो है ही, विज्ञानने भी जिसे प्रत्यक्ष कर दिखाया है।

व्यवहार और अव्यवहाराभास

संग्रहनयके द्वारा संगृहीत अर्थमें विधिपूर्वक, अविसंवादी और वस्तुस्थितिमूलक भेद करनेवाला व्यवहारनय^२ है। यह व्यवहारनय लोकप्रसिद्ध व्यवहारका अविरोधी होता है। लोकव्यवहारविरुद्ध, विसंवादी और वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करनेवाली भेदकल्पना^३ व्यवहाराभास है। लोकव्यवहार अर्थ, शब्द और ज्ञान

१. ‘सर्वमेकं सदविशेषात्’—तत्त्वार्थमा० १।३५।

२. संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकभवहरणं व्यवहारः।’ —सर्वार्थसि० १।३३।

३. ‘कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्।

प्रमाणबाधितोज्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम् ॥’—त० श्लो० पृ० २७१।

तीनोंसे चलता है। जीवव्यवहार जीव-अर्थ जीव-विषयक ज्ञान और जीव-शब्द तीनोंसे सधता है। 'वस्तु उत्पादव्यय-ध्रौव्यवाली है, द्रव्य गुण-पर्यायवाला है, जीव चैतन्यरूप है' इत्यादि भेदक-वाक्य प्रमाणाविरोधी हैं तथा लोकव्यवहारमें अविस्वादी होनेसे प्रमाण हैं। ये वस्तुगत अभेदका निराकरण न करनेके कारण तथा पूर्वापराविरोधी होनेसे सत्त्व्यवहारके विषय हैं। सौत्रान्तिकका जड़ या चेतन सभी पदार्थोंको सर्वथा क्षणिक निरंश और परमाणुरूप मानना, योगाचारका क्षणिक अविभागी विज्ञानाद्वैत मानना, माध्यमिकका निरावलम्बन ज्ञान या सर्वशून्यता स्वीकार करना प्रमाणविरोधी और लोकव्यवहारमें विस्वादाक होनेसे व्यवहाराभास है।

जो भेद वस्तुके अपने निजी मौलिक एकत्वकी अपेक्षा रखता है, वह व्यवहार है और अभेदका सर्वथा निराकरण करनेवाला व्यवहाराभास है। दो स्वतंत्र द्रव्योंमें वास्तविक भेद है, उनमें सादृश्यके कारण अभेद आरोपित होता है, जब कि एकद्रव्यके गुण और पर्यायोंमें वास्तविक अभेद है, उनमें भेद उस अखण्ड वस्तुका विश्लेषणकर समझनेके लिए कल्पित होता है। इस मूल वस्तुस्थितिको लाँघकर भेदकल्पना या अभेदकल्पना तदाभास होती है, पारमार्थिक नहीं। विश्वके अनन्त द्रव्योंका अपना व्यक्तित्व मौलिक भेदपर ही टिका हुआ है। एक द्रव्यके गुणादिका भेद वस्तुतः मिथ्या कहा जा सकता है और उसे अविद्याकल्पित कहकर प्रत्येक द्रव्यके अद्वैत तक पहुँच सकते हैं, पर अतन्त अद्वैतोंमें तो क्या, दो अद्वैतोंमें भी अभेदकी कल्पना उसी तरह औपचारिक है, जैसे सेना, वन, प्रान्त और देश आदि की कल्पना। वैशेषिककी प्रतीतिविह्व द्रव्यादिभेदकल्पना भी व्यवहाराभासमें आती है।

ऋजुसूत्र और तदाभास

व्यवहारनय तक भेद और अभेदकी कल्पना मुख्यतया अनेक द्रव्योंको सामने रखकर चलती है। 'एक द्रव्यमें भी कालक्रमसे पर्यायभेद होता है और वर्तमान क्षणका अतीत और अनागतसे कोई सम्बन्ध नहीं है' यह विचार ऋजुसूत्रनय प्रस्तुत करता है। यह नय^१ वर्तमानक्षणवर्ती शुद्ध अर्थपर्यायको ही विषय करता है। अतीत चूँकि विनष्ट है और अनागत अनुत्पन्न है, अतः उसमें पर्याय व्यवहार ही नहीं हो सकता। इसकी दृष्टिसे नित्य कोई वस्तु नहीं है और स्थूल भी कोई चीज नहीं है। सरल सूतकी तरह यह^२ केवल वर्तमान पर्यायको स्पर्श करता है।

यह नय पच्यमान वस्तुको भी अंशतः पक्व कहता है। क्रियमाणको भी अंशतः कृत, भुज्यमानको भी भुक्त और बद्ध्यमानको भी बद्ध कहना इसकी सूक्ष्मदृष्टिमें शामिल है।

इस नयकी दृष्टिसे 'कुम्भकार' व्यवहार नहीं हो सकता; क्योंकि जब तक कुम्हार शिविक, छत्रक आदि पर्यायोंको कर रहा है, तब तक तो कुम्भकार कहा नहीं जा सकता, और जब कुम्भ पर्यायका समय आता है, तब वह स्वयं अपने उपादानसे निष्पन्न हो जाती है। अब किसे करनेके कारण वह 'कुम्भकार' कहा जाय ?

जिस समय जो आकरके बैठा है, वह यह नहीं कह सकता कि 'अभी ही आ रहा हूँ' इस नयकी दृष्टिमें 'ग्रामनिवास', 'गृहनिवास' आदि व्यवहार नहीं हो सकते, क्योंकि हर व्यक्ति स्वात्मस्थित होता है, वह न तो ग्राममें रहता है और न घरमें ही।

१. 'पंच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो ।'—अनुयोग० द्वा० ४ ।

अकलकग्रन्थत्रय टि० पृ० १४६ ।

२. 'सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः ।'—तत्त्वार्थवा० १।३३

‘कौआ काला है’ यह नहीं हो सकता; क्योंकि कौआ कौआ है और काला काला । यदि काला कौआ हो; तो समस्त भौरा आदि काले पदार्थ कौआ हो जाएँगे । यदि कौआ काला हो; तो सफेद कौआ नहीं हो सकेगा । फिर कौआके रक्त, मांस, पित्त, हड्डी, चमड़ी आदि मिलकर पंचरंगी वस्तु होते हैं, अतः उसे केवल काला ही कैसे कह सकते हैं ?

इस नयकी दृष्टिमें पलालका दाह नहीं हो सकता; क्योंकि आगीका सुलगाना, धौंकना और जलाना आदि असंख्य समयकी क्रियाएँ वर्तमान क्षणमें नहीं हो सकतीं । जिस समय दाह है उस समय पलाल नहीं और जिस समय पलाल है उस समय दाह नहीं, तब पलालदाह कैसा ? ‘जो पलाल है वह जलता है’ यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि बहुत-सा पलाल बिना जला हुआ पड़ा है ।

इस नयकी सूक्ष्म विश्लेषक दृष्टिमें पान, भोजन आदि अनेक-समय-साध्य कोई भी क्रियाएँ नहीं बन सकतीं; क्योंकि एक क्षणमें तो क्रिया होती नहीं और वर्तमानका अतीत और अनागतसे कोई सम्बन्ध इसे स्वीकार नहीं है । जिस द्रव्यरूपी माध्यमसे पूर्व और उत्तर पर्यायोंमें सम्बन्ध जुटता है उस माध्यमका अस्तित्व ही इसे स्वीकार्य नहीं है ।

इस नयको लोकव्यवहारके विरोधकी कोई चिन्ता नहीं है ।^१ लोक व्यवहार तो यथायोग्य व्यवहार, नैगम आदि अन्य नयोंसे चलेगा ही । इतना सब क्षणपर्यायकी दृष्टिसे विश्लेषण करनेपर भी यह नय द्रव्यका लोप नहीं करता । वह पर्यायकी मुख्यता भले ही कर ले, पर द्रव्यकी परमार्थसत्ता उसे क्षणकी तरह ही स्वीकृत है । उसकी दृष्टिमें द्रव्यका अस्तित्व गौणरूपमें विद्यमान रहता ही है ।

बौद्धका सर्वथा क्षणिकवाद ऋजुसूत्रनयाभास है, क्योंकि उसमें द्रव्यका विलोप हो जाता है और जब निर्वाण अवस्थामें चित्तसन्तति दीपककी तरह बुझ जाती है, यानी अस्तित्वशून्य हो जाती है, तब उनके मतमें द्रव्यका सर्वथा लोप स्पष्ट हो जाता है ।

क्षणिक पक्षका समन्वय ऋजुसूत्रनय तभी कर सकता है, जब उसमें द्रव्यका पारमार्थिक अस्तित्व विद्यमान रहे, भले ही वह गौण हो । परन्तु व्यवहार और स्वरूपभूत अर्थक्रियाके लिये उसकी नितान्त आवश्यकता है ।

शब्दनय और तदाभास

काल, कारक, लिंग तथा संख्याके भेदसे शब्दभेद होनेपर उनके भिन्न-भिन्न अर्थोंको ग्रहण करने-वाला शब्दनय^२ है । शब्दनयके अभिप्रायमें अतीत, अनागत और वर्तमानकालीन क्रियाओंके साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है । ‘करोति क्रियते’ आदि भिन्न साधनोंके साथ प्रयुक्त देवदत्त भी भिन्न है । ‘देवदत्तः देवदत्ता’ इस लिंगभेदमें प्रयुक्त होनेवाला देवदत्त भी एक नहीं है । एकवचन, द्विवचन और बहुवचनमें प्रयुक्त होनेवाला देवदत्त भी भिन्न-भिन्न है । इसकी दृष्टिमें भिन्नकालीन, भिन्नकारक-निष्पन्न, भिन्नलिंगक और भिन्नसंख्याक शब्द एक अर्थके वाचक नहीं हो सकते । शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिये । शब्दनय उन वैयाकरणोंके तरीकेको अन्याय्य समझता है जो शब्दभेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना चाहते, अर्थात् जो एकान्तनित्य आदि रूप पदार्थ मानते हैं, उसमें पर्यायभेद स्वीकार नहीं करते ।

१. “ननु संव्यवहारलोपप्रसङ्ग इति चेत्; न; अस्य नयस्य विषयमात्रप्रदर्शनं क्रियते । सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोकसंव्यवहारः ।” —सर्वार्थसि० १।३३ ।

२. “कालकारकलिङ्गादिभेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत् ।” —लघी० श्लो० ४४ । अकलङ्कग्रन्थत्रयटि० पृ० १४६ ।

उनके मतमें कालकारकादिभेद होनेपर भी अर्थ एकरूप बना रहता है। तब यह नय कहता है कि तुम्हारी मान्यता उचित नहीं है। एक ही देवदत्त कैसे विभिन्न लिंगक, भिन्नसंख्याक और भिन्नकालीन शब्दोंका वाच्य हो सकेगा? उसमें भिन्न शब्दोंकी वाच्यभूत पर्यायें भिन्न-भिन्न स्वीकार करनी ही चाहिये, अन्यथा लिंगव्यभिचार, साधनव्यभिचार और कालव्यभिचार आदि बने रहेंगे। व्यभिचारका यहाँ अर्थ है शब्दभेद होनेपर अर्थभेद नहीं मानना, यानी एक ही अर्थका विभिन्न शब्दोंसे अनुचित सम्बन्ध। अनुचित इसलिये कि हर शब्दकी वाचकशक्ति जुदा-जुदा होती है; यदि पदार्थमें तदनुकूल वाच्यशक्ति नहीं मानी जाती है तो अनौचित्य तो स्पष्ट ही है, उनका मेल कैसे बैठ सकता है?

काल स्वयं परिणमन करनेवाले वर्तनाशील पदार्थोंके परिणमनमें साधारण निमित्त होता है। इसके भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीन भेद हैं। केवल शक्ति तथा अनपेक्ष द्रव्य और शक्तिको कारक नहीं कहते; किन्तु शक्तिविशिष्ट द्रव्यको कारक कहते हैं। लिंग चिह्नको कहते हैं। जो गर्भधारण करे वह स्त्री, जो पुत्रादिकी उत्पादक सामर्थ्य रखे वह पुरुष और जिसमें दोनों ही सामर्थ्य न हों वह नपुंसक कहलाता है। कालादिके ये लक्षण अनेकान्त अर्थमें ही बन सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न सामग्रीके मिलनेपर षट्कारकी रूपसे परिणति कर सकती है। कालादिके भेदसे एक ही द्रव्यकी नाना पर्यायें हो सकती हैं। सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य वस्तुमें ऐसे परिणमनकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि सर्वथा नित्यमें उत्पाद और व्यय तथा सर्वथा क्षणिकमें स्थैर्य—ध्रौव्य नहीं है। इस तरह कारकव्यवस्था न होनेसे विभिन्न कारकोंमें निष्पन्न षट्कारकी, स्त्रीलिंगादि लिंग और वचनभेद आदिकी व्यवस्था एकान्तपक्षमें सम्भव नहीं है।

यह शब्दनय वैयाकरणोंको शब्दशास्त्रकी सिद्धिका दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है, और बताता है कि सिद्धि अनेकान्तसे ही हो सकती है। जब तक वस्तुको अनेकान्तात्मक नहीं मानोगे, तब तक एक ही वर्तमान पर्यायमें विभिन्नलिंगक, विभिन्नसंख्याक शब्दोंका प्रयोग नहीं कर सकोगे, अन्यथा व्यभिचार दोष होगा। अतः उस एक पर्यायमें भी शब्दभेदसे अर्थभेद मानना ही होगा। जो वैयाकरण ऐसा नहीं मानते उनका शब्दभेद होनेपर भी अर्थभेद न मानना शब्दनयाभास है। उनके मतमें उपसर्गभेद, अन्यपुरुषकी जगह मध्यमपुरुष आदि पुरुषभेद, भावि और वर्तमानक्रियाका एक कारकसे सम्बन्ध आदि समस्त व्याकरणकी प्रक्रियाएँ निराधार एवं निर्विषयक हो जायेंगी। इसीलिये जैनेन्द्रव्याकरणके रचयिता आचार्यवर्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्रव्याकरणका प्रारम्भ “सिद्धिरनेकान्तात्” सूत्रसे और आचार्य हेमचन्द्रने हेमशब्दानुशासनका प्रारम्भ “सिद्धि स्याद्वादात्” सूत्रसे किया है। अतः अन्य वैयाकरणोंका प्रचलित क्रम शब्दनयाभास है।

समभिरूढ और तदाभास

एककालवाचक, एकलिंगक तथा एकसंख्याक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। समभिरूढनय उन प्रत्येक पर्यायवाची शब्दोंका भी अर्थभेद मानता है। इस नयके अभिप्रायसे एकलिंगवाले इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन तीन शब्दोंमें प्रवृत्तिनिमित्तकी भिन्नता होनेसे भिन्नार्थवाचकता है। शक्र शब्द शासनक्रियाकी अपेक्षासे, इन्द्र शब्द इन्दन—ऐश्वर्यक्रियाकी अपेक्षासे और पुरन्दर शब्द पूदारण क्रियाकी अपेक्षासे, प्रवृत्त हुआ है। अतः तीनों शब्द विभिन्न अवस्थाओंके वाचक हैं। शब्दनयमें एकलिंगवाले पर्यायवाची शब्दोंमें अर्थ-नहीं था, पर समभिरूढनय प्रवृत्तिनिमित्तोंकी विभिन्नता होनेसे पर्यायवाची शब्दोंमें भी अर्थभेद मानता है। यह नय उन कोशकारोंको दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है, जिनने एक ही राजा या पृथ्वीके अनेक नाम-

१. ‘अभिरूढस्तु पर्यायः’—लघी० श्लो० ४४। अकलङ्कग्रन्थत्रयटि पृ० १४७।

३२४ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

पर्यायवाची शब्द तो प्रस्तुत कर दिये हैं, पर उस पदार्थमें उन पर्यायशब्दोंकी वाच्यशक्ति जुदा-जुदा स्वीकार नहीं की। जिस प्रकार एक अर्थ अनेक शब्दोंका वाच्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार एक शब्द अनेक अर्थोंका वाचक भी नहीं हो सकता। एक गोशब्दके ग्यारह अर्थ नहीं हो सकते; उस शब्दमें ग्यारह प्रकारकी वाचक-शक्ति मानना ही होगी। अन्यथा यदि वह जिस शक्तिसे पृथिवीका वाचक है उसी शक्तिसे गायका भी वाचक हो; तो एकशक्तिक शब्दसे वाच्य होनेके कारण पृथिवी और गाय दोनों एक हो जायेंगे। अतः शब्दमें वाच्यभेदके हिसाबसे अनेक वाचकशक्तियोंकी तरह पदार्थमें भी वाचकभेदकी अपेक्षा अनेक वाचकशक्तियाँ माननी ही चाहिए। प्रत्येक शब्दके व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त जुदे-जुदे होते हैं, उनके अनुसार वाच्य-भूत अर्थमें पर्यायभेद या शक्तिभेद मानना ही चाहिये। यदि एकरूप ही पदार्थ हो; तो उसमें विभिन्न क्रियाओंसे निष्पन्न अनेक शब्दोंका प्रयोग ही नहीं हो सकेगा। इस तरह समभिरूढनय पर्यायवाची शब्दोंकी अपेक्षा भी अर्थभेद स्वीकार करता है।

पर्यायवाची शब्दभेद मानकर भी अर्थभेद नहीं मानना समभिरूढनयाभास है। जो मत पदार्थको एकान्तरूप मानकर भी अनेक शब्दोंका प्रयोग करते हैं उनकी यह मान्यता तदाभास है।

एवम्भूत और तदाभास

एवम्भूतनय^१, पदार्थ जिस समय जिस क्रियामें परिणत हो उस समय उसी क्रियासे निष्पन्न शब्दकी प्रवृत्ति स्वीकार करता है। जिस समय शासन कर रहा हो उसी समय उसे शत्रु कहेंगे, इन्दन-क्रियाके समय नहीं। जिस समय घटन-क्रिया हो रही हो, उसी समय उसे घट कहना चाहिये, अन्य समयमें नहीं। समभिरूढनय उस समय क्रिया हो या न हो, पर शक्तिकी अपेक्षा अन्य शब्दोंका प्रयोग भी स्वीकार कर लेता है, परन्तु एवम्भूतनय ऐसा नहीं करता। क्रियाक्षणमें ही कारक कहा जाय, अन्य क्षणमें नहीं। पूजा करते समय ही पुजारी कहा जाय, अन्य समयमें नहीं; और पूजा करते समय उसे अन्य शब्दसे भी नहीं कहा जाय। इस तरह समभिरूढनयके द्वारा वर्तमान पर्यायमें शक्तिभेद मानकर जो अनेक पर्यायशब्दोंके प्रयोगकी स्वीकृति थी, वह इसकी दृष्टिमें नहीं है। यह तो क्रियाका धनी है। वर्तमानमें शक्तिकी अभिव्यक्ति देखता है। तत्क्रियाकालमें अन्य शब्दका प्रयोग करना या उस शब्दका प्रयोग नहीं करना एवम्भूताभास है। इस नयको व्यवहारकी कोई चिन्ता नहीं है। हाँ, कभी-कभी इससे भी व्यवहारकी अनेक गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। न्यायाधीश जब न्यायकी कुरसीपर बैठता है तभी न्यायाधीश है। अन्य कालमें भी यदि उसके सिरपर न्यायाधीशत्व सवार हो, तो गृहस्थी चलना कठिन हो जाय। अतः व्यवहारको जो सर्वनयसाध्य कहा है, वह ठीक ही कहा है। नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अल्पविषयक हैं

इन नयोंमें^२ उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और अल्पविषयता है। नैगमनय संकल्पग्राही होनेसे सत् और असत् दोनोंको विषय करता है, जबकि संग्रहनय 'सत्' तक ही सीमित है। नैगमनय भेद और अभेद दोनोंको गौण-मुख्यभावसे विषय करता है, जबकि संग्रहनयकी दृष्टि केवल अभेदपर है, अतः नैगमनय महाविषयक और स्थूल है, परन्तु संग्रहनय अल्पविषयक और सूक्ष्म है। सन्मात्रग्राही संग्रहनयसे सद्विशेषग्राही व्यवहार अल्प-विषयक है। संग्रहके द्वारा संगृहीत अर्थमें व्यवहार भेद करता है, अतः वह अल्पविषयक ही हो जाता है।

१. 'येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययति इत्येवम्भूतः।'

—सर्वार्थसिद्धि १।३३। अकलकग्रन्थत्रयटि० पृ० १४७।

२. 'एवमेते नयाः पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानूकूलाल्पविषयाः।'

—तत्त्वार्थवा० १।३६।

व्यवहारनय द्रव्यग्राही और त्रिकालवर्ती सद्विशेषको विषय करता है, अतः वर्तमानकालीन पर्यायको ग्रहण करनेवाला ऋजुसूत्र उससे सूक्ष्म हो ही जाता है। शब्दभेदकी चिन्ता नहीं करनेवाले ऋजुसूत्रनयसे वर्तमानकालीन एक पर्यायमें भी शब्दभेदसे अर्थभेदकी चिन्ता करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है। पर्यायवाची शब्दोंमें भेद होनेपर भी अर्थभेद न माननेवाले शब्दनयसे पर्यायवाची शब्दों द्वारा पदार्थमें शक्तिभेद कल्पना करनेवाला समभिरूढनय सूक्ष्म है। शब्दप्रयोगमें क्रियाकी चिन्ता नहीं करनेवाले समभिरूढसे क्रियाकालमें ही उन शब्दका प्रयोग माननेवाला एवम्भूत सूक्ष्मतर और अल्पविषयक है।

अर्थनय, शब्दनय

इन सात नयोंमें ऋजुसूत्र पर्यन्त चार नय अर्थग्राही होनेसे अर्थनय^१ है। यद्यपि नैगमनय, संकल्पग्राही होनेसे अर्थकी सीमासे बाहिर हो जाता था, पर नैगमका विषय भेद और अभेद दोनोंको ही मानकर उसे अर्थग्राही कहा गया है। शब्द आदि तीन नय पदविद्या अर्थात् व्याकरणशास्त्र—शब्दशास्त्रकी सीमा और भूमिका वर्णन करते हैं, अतः ये शब्दनय हैं।

द्रव्याधिक-पर्यायाधिक विभाग

नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन द्रव्याधिक नय हैं और ऋजुसूत्रादि चार नय पर्यायाधिक हैं। प्रथमके तीन नयोंकी द्रव्यपर दृष्टि रहती है, जबकि शेष चार नयोंका वर्तमानकालीन पर्यायपर ही विचार चालू होता है। यद्यपि व्यवहारनयमें भेद प्रधान है और भेदको भी कहीं-कहीं पर्याय कहा है, परन्तु व्यवहारनय एकद्रव्यगत ऊर्ध्वतासामान्यमें कालिक पर्यायोंका अन्तिम भेद नहीं करता, उसका क्षेत्र अनेकद्रव्यमें भेद करनेका मुख्यरूपसे है। वह एकद्रव्यकी पर्यायोंमें भेद करके भी अन्तिम एकक्षणवर्ती पर्याय तक नहीं पहुँच पाता, अतः इसे शुद्ध पर्यायाधिकमें शामिल नहीं किया है। जैसे कि नैगमनय कभी पर्यायको और कभी द्रव्यको विषय करनेके कारण उभयावलम्बी होनेमें द्रव्याधिकमें ही अन्तर्भूत है उसी तरह व्यवहारनय भी भेदप्रधान होकर भी द्रव्यको विषय करता है, अतः वह भी द्रव्याधिककी ही सीमामें है। ऋजुसूत्रादि चार नय तो स्पष्ट ही एकसमयवर्ती पर्यायको सामने रखकर विचार चलाते हैं, अतः पर्यायाधिक हैं। आ० जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ऋजुसूत्रको भी द्रव्याधिक मानते हैं^२।

निश्चय और व्यवहार

अध्यात्मशास्त्रमें नयोंके निश्चय और व्यवहार ये दो भेद प्रसिद्ध हैं। निश्चयनयको भूतार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ भी वहीं^३ बताया है। जिस प्रकार अद्वैतवादमें पारमार्थिक और व्यावहारिक दो रूपमें और शून्यवाद या विज्ञानवादमें परमार्थ और सावृत दो रूपमें या उपनिषदोंमें सूक्ष्म और स्थूल दो रूपोंमें तत्त्वके वर्णनकी पद्धति देखी जाती है उसी तरह जैन अध्यात्ममें भी निश्चय और व्यवहार इन दो प्रकारोंको अपनाया है। अन्तर इतना है कि जैन अध्यात्मका निश्चयनय वास्तविक स्थितिको उपादानके आधारसे पकड़ता है; वह अन्य पदार्थोंके अस्तित्वका निषेध नहीं करता; जब कि वेदान्त या विज्ञानाद्वैतका परमार्थ अन्य

१. 'चत्वारोऽर्थाश्रयाः शेषास्त्रयं शब्दतः। —सिद्धिवि० । लघी० इलो० ७२ ।

२. विशेषा० गा० ७५, ७७, २२६२ ।

३. समयसार गा० ११ ।

३२६ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

पदार्थोंके अस्तित्वको ही समाप्त कर देता है। बुद्धकी धर्मदेशनाको परमार्थसत्य और लोकसंवृत्तिसत्य इन दो रूपसे घटानेका भी प्रयत्न हुआ है।

निश्चयनय परनिरपेक्ष स्वभावका वर्णन करता है। जिन पर्यायोंमें 'पर' निमित्त पड़े जाता है उन्हें वह शुद्ध स्वकीय नहीं कहता। परजन्य पर्यायोंको 'पर' मानता है। जैसे—जीवके रागादि भावोंमें यद्यपि आत्मा स्वयं उपादान होता है, वही रागरूपसे परिणति करता है, परन्तु चूँकि ये भाव कर्मनिमित्तक हैं, अतः इन्हें वह अपने आत्माके निरूपण नहीं मानता। अन्य आत्माओं और जगत्के समस्त अजीवोंको तो वह अपना मान ही नहीं सकता, किन्तु जिन आत्मविकासके स्थानोंमें परका थोड़ा भी निमित्तत्व होता है उन्हें वह 'पर' के खातेमें ही खतया देता है। इसीलिये समयसारमें जब आत्माके वर्णन, रस, स्पर्श आदि प्रसिद्ध पररूपोंका निषेध किया है तो उसी झोकमें गुणस्थान आदि परनिमित्तक स्वधर्मोंका भी निषेध कर दिया गया है।^२ दूसरे शब्दोंमें निश्चयनय अपने मूल लक्ष्य या आदर्शका खालिस वर्णन करना चाहता है, जिससे साधकको भ्रम न हो और वह भटक न जाय। इसलिये आत्माका नैश्चयिक वर्णन करते समय शुद्ध ज्ञायक रूप ही आत्माका स्वरूप प्रकाशित किया गया है। बन्ध और रागादिको भी उसी एक 'पर' कोटिमें डाल दिया है जिसमें पुद्गल आदि प्रकट परपदार्थ पड़े हुए हैं। व्यवहारनय परसाक्षेप पर्यायोंको ग्रहण करनेवाला होता है। परद्रव्य तो स्वतन्त्र है, अतः इन्हें तो अपना कहनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

अध्यात्मशास्त्रका उद्देश्य है कि वह साधकको यह स्पष्ट बता दे कि तुम्हारा गन्तव्य स्थान क्या है? तुम्हारा परम ध्येय और चरम लक्ष्य क्या हो सकता है? बीचके पड़ाव तुम्हारे साध्य नहीं हैं। तुम्हें तो उनसे बहुत ऊँचे उठकर परम स्वावलम्बी बनना है। लक्ष्यका दो टूक वर्णन किये बिना मोही जीव भटक ही जाता है। साधकको उन स्वोपादानक, किन्तु परनिमित्तक विभूति या विकारोंसे उसी तरह अलिप्त रहना है, उनसे ऊपर उठना है, जिस तरह कि वह स्त्री, पुत्रादि परचेतन तथा घन-धान्यादि पर अचेतन पदार्थोंसे नाता तोड़कर स्वावलम्बी मार्ग पकड़ता है। यद्यपि यह साधककी भावना मात्र है, पर इसे आ० कुन्दकुन्दने दार्शनिक आधार पकड़ाया है। वे उस लोकव्यवहारको हेय मानते हैं, जिसमें अंशतः भी परावलम्बन हो। किन्तु यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि ये सत्यस्थितिका अपलाप नहीं करना चाहते। वे लिखते हैं^३ कि 'जीवके परिणामोंको निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मपर्यायको प्राप्त होते हैं और उन कर्मोंके निमित्तसे जीवमें रागादि परिणाम होते हैं, यद्यपि दोनों अपने-अपने परिणामोंमें उपादान होते हैं, पर वे परिणमन परस्पर-हेतुक—अन्योन्यनिमित्तक हैं।' उन्होंने "अण्णोण्णणित्तेण" पदसे इसी भावका समर्थन किया है। यानी कार्य उपादान और निमित्त दोनों सामग्रीसे होता है।

इस तथ्यका वे अपलाप नहीं करके उसका विवेचन करते हैं और जगत्के उस अहंकारमूलक नैमित्तिक

१. 'द्वे समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।
लोकसंवृत्तिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥' —माध्यमिककारिका, आर्यसत्यपरीक्षा, श्लो० ।
२. 'जेव य जीवट्टाणा ण गुणट्टाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुरगलद्ववस्स पज्जाया ॥ ५५ ॥ —समयसार ।
३. 'जीववरिणामहेदुं कम्मत्तं पुगला परिणमति ।
पुरगलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमइ ॥८०॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८१॥' —समयसार

कसूँत्वका खरा विश्लेषण करके कहते हैं^१ कि बताओ 'कुम्हारने घड़ा बनाया' इसमें कुम्हारने आखिर क्या किया ? यह सही है कि कुम्हारको घड़ा बनानेकी इच्छा हुई, उसने उपयोग लगाया और योग—अर्थात् हाथ-पैर हिलाये, किन्तु 'घट' पर्याय तो आखिर मिट्टीमें ही उत्पन्न हुई। यदि कुम्हारकी इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न ही घटके अन्तिम उत्पादक होते तो उनसे रेत या पत्थरमें भी घड़ा उत्पन्न हो जाना चाहिये था। आखिर वह मिट्टीकी उपादानयोग्यतापर ही निर्भर करता है, वही योग्यता घटाकार बन जाती है। यह ठीक है कि कुम्हारके ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नके निमित्त बने बिना मिट्टीकी योग्यता विकसित नहीं हो सकती थी, पर इतने निमित्तमात्रसे हम उपादानकी निजयोग्यताकी विभूतिकी उपेक्षा नहीं कर सकते। इस निमित्तका अहंकार तो देखिए कि जिसमें रंचमात्र भी इसका अंश नहीं जाता, अर्थात् न तो कुम्हारका ज्ञान मिट्टीमें घँसता है, न इच्छा और न प्रयत्न, फिर भी वह 'कुम्भकार' कहलाता है ! कुम्भके रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि मिट्टीसे ही उत्पन्न होते हैं, उसका एक भी गुण कुम्हारने उपजाया नहीं है। कुम्हारका एक भी गुण मिट्टीमें पहुँचा नहीं है, फिर भी वह सर्वाधिकारी बनकर 'कुम्भकार' होनेका दुरभिमान करता है !

राग, द्वेष आदिकी स्थिति यद्यपि विभिन्न प्रकारकी है; क्योंकि इसमें आत्मा स्वयं राग और द्वेष आदि पर्यायों रूपसे परिणत होता है; फिर भी यहाँ वे विश्लेषण करते हैं कि बताओ तो सही—क्या शुद्ध आत्मा इनमें उपादान बनता है ? यदि सिद्ध और शुद्ध आत्मा रागादिमें उपादान बनने लगे; तो मुक्तिका क्या स्वरूप रह जाता है ? अतः इनमें उपादान रागादिपर्यायसे विशिष्ट आत्मा ही बनता है, दूसरे शब्दोंमें रागादिसे ही रागादि होते हैं। निश्चयनय जीव और कर्मके अनादि बन्धनसे इनकार नहीं करता। पर उस बंधनका विश्लेषण करता है कि जब दो स्वतंत्र द्रव्य हैं तो इनका संयोग ही तो हो सकता है, तादात्म्य नहीं। केवल संयोग तो अनेक द्रव्योंसे इस आत्माका सदा ही रहनेवाला है, केवल वह हानिकारक नहीं होता। धर्म, अधर्म, आकाश और काल तथा अन्य अनेक आत्माओंसे इसका सम्बन्ध बराबर मौजूद है, पर उससे इसके स्वरूपमें कोई विकार नहीं होता। सिद्धिशिलापर विद्यमान सिद्धात्माओंके साथ वहाँके पुद्गल परमाणुओंका संयोग है ही, पर इतने मात्रसे उनमें बन्धन नहीं कहा जा सकता और न उस संयोगसे सिद्धोंमें रागादि ही उत्पन्न होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि शुद्ध आत्मा परसंयोगरूप निमित्तके रहनेपर भी रागादिमें उपादान नहीं होता और न पर निमित्त उसमें बलात् रागादि उत्पन्न ही कर सकते हैं। हमें सोचना ऊपरकी तरफसे है कि जो हमारा वास्तविक स्वरूप बन सकता है, जो हम हो सकते हैं, वह स्वरूप क्या रागादिमें उपादान होता है ? नीचेकी ओरसे नहीं सोचना है; क्योंकि अनादिकालसे तो अशुद्ध आत्मा रागादिमें उपादान बन ही रहा है और उसमें रागादिकी परम्परा बराबर चालू है।

अतः निश्चयनयको यह कहनेके स्थानमें कि 'मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, अस्पृष्ट हूँ; यह कहना चाहिये कि 'मैं शुद्ध, अबद्ध और अस्पृष्ट हो सकता हूँ।' क्योंकि आज तक तो उसने आत्माकी इस शुद्ध आदर्श दशाका अनुभव किया ही नहीं है। बल्कि अनादिकालसे रागादिपंकमें ही वह लिप्त रहा है ! यह निश्चित तो इस आधारपर किया जा रहा है कि जब दो स्वतंत्र द्रव्य हैं, तब उनका संयोग भले ही अनादि हो, पर वह टूट सकता है, और वह टूटेगा तो अपने परमार्थ स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर लक्ष्य करनेसे। इस शक्तिका निश्चय भी द्रव्यका स्वतंत्र अस्तित्व मानकर ही तो किया जा सकता है। अनादि अशुद्ध आत्मामें शुद्ध होनेकी शक्ति है, वह शुद्ध हो सकता है। यह शक्यता—भविष्यत्का ही तो विचार है। हमारा भूत और वर्तमान अशुद्ध

१. जीवों न करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।

जोगुवओगा उप्पादगा य तेसि ह्वदि कत्ता ॥१००॥' —समयसार ।

३२८ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

है, फिर भी निश्चयनय हमारे उज्ज्वल भविष्यकी ओर, कल्पनासे नहीं, वस्तुके आधारसे ध्यान दिलाता है। उसी तत्त्वको आचार्य कुन्द-कुन्द^१ बड़ी सुन्दरतासे कहते हैं कि 'काम, भोग और बन्धकी कथा सभीको श्रुत, परिचित और अनुभूत है, पर विभक्त—शुद्ध आत्माके एकत्वकी उपलब्धि सुलभ नहीं है।' कारण यह है कि शुद्ध आत्माका स्वरूप संसारी जीवोंको केवल श्रुतपूर्व है अर्थात् उसके सुननेमें ही कदाचित् आया हो, पर न तो उसने कभी इसका परिचय पाया है और न कभी इसने उसका अनुभव ही किया है। आ० कुन्द-कुन्द (समयसार गा० ५) अपने आत्मविश्वाससे भरोसा दिलाते हैं कि 'मैं अपनी समस्त सामर्थ्य और बुद्धिका विभव लगाकर उसे दिखाता हूँ।' फिर भी वे थोड़ी कचाईका अनुभव करके यह भी कह देते हैं कि 'यदि चूक जाऊँ, तो लल नहीं मानना।'

द्रव्य का शुद्ध लक्षण

उनका एक ही दृष्टिकोण है कि द्रव्यका स्वरूप वही हो सकता है जो द्रव्यकी प्रत्येक पर्यायमें व्याप्त होता है। यद्यपि द्रव्य किसी-न-किसी पर्यायको प्राप्त होता है और होगा, पर एक पर्याय दूसरी पर्यायमें तो नहीं पाई जा सकती और इसलिये द्रव्यकी कोई भी पर्याय द्रव्यसे अभिन्न होकर भी द्रव्यका शुद्धरूप नहीं कही जा सकती। अब आप आत्माके स्वरूपपर क्रमशः विचार कीजिए। वर्ण, रस आदि तो स्पष्ट पुद्गलके गुण हैं वे पुद्गलकी ही पर्यायें हैं और उनमें पुद्गल ही उपादान होता है, अतः वे आत्माके स्वरूप नहीं हो सकते, यह बात निर्विवाद है। रागादि समस्त विकारोंमें यद्यपि अपने परिणामीस्वभावके कारण आत्मा ही उपादान होता है, उसकी विरागता ही बिगड़कर राग बनती है, उसीका सम्यक्त्व बिगड़कर मिथ्यात्वरूप हो जाता है, पर वे विरागता और सम्यक्त्व भी आत्माके त्रिकालानुयायी शुद्ध रूप नहीं हो सकते; क्योंकि वे निगोद आदि अवस्थामें तथा सिद्ध अवस्था में नहीं पाये जाते। सम्यग्दर्शन आदि गुणस्थान भी उन-उन पर्यायों के नाम हैं जो कि त्रिकालानुयायी नहीं हैं, उनकी सत्ता मिथ्यात्व आदि अवस्थाओंमें तथा सिद्ध अवस्था में नहीं रहती। इनमें परपदार्थ निमित्त पड़ता है। किसी-न-किसी पर कर्मका उपशम, क्षय या क्षयोपशम उसमें निमित्त होता ही है। केवली अवस्थामें जो अनन्तज्ञानादि गुण प्रकट हुए हैं वे घातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुए हैं और अघातिया कर्मोंका उदय उनके जीवनपर्यन्त बना ही रहता है। योगजन्य चंचलता उनके आत्मप्रदेशोंमें है ही। अतः परनिमित्तक होनेसे ये भी शुद्ध द्रव्यका स्वरूप नहीं कहे जा सकते। चौदहवें गुणस्थानको पार करके जो सिद्ध अवस्था है वह शुद्ध द्रव्यका ऐसा स्वरूप तो है जो प्रथम-क्षणभावी सिद्ध अवस्थासे लेकर आगेके अनन्तकाल तकके समस्त भविष्यमें अनुयायी है, उसमें कोई भी पर-निमित्तक विकार नहीं आ सकता, किन्तु वह संसारी दशामें नहीं पाया जाता। एक त्रिकालानुयायी स्वरूप ही लक्षण हो सकता है, और वह है—शुद्ध ज्ञायक रूप, चैतन्य रूप। इनमें ज्ञायक रूप भी परपदार्थके जानने-रूप उपाधिकी अपेक्षा रखता है।

त्रिकालव्यापी 'चित्' ही लक्षण हो सकती है

अतः केवल 'चित्' रूप ही ऐसा बचता है जो भविष्यत्में तो प्रकटरूपसे व्याप्त होता ही है, साथ ही अतीतकी प्रत्येक पर्यायमें, चाहे वह निगोद जैसी अत्यल्पज्ञानवाली अवस्था हो और केवलज्ञान जैसी समग्र विकसित अवस्था हो, सबमें निर्विवादारूपसे पाया जाता है। 'चित्' रूपका अभाव कभी भी आत्मद्रव्यमें न रहा है, न है और न होगा। वही अंश द्रवणशील होनेसे द्रव्य कहा जा सकता है और अलक्ष्यसे व्यावर्तक

१. सुदपरिचिदाणुभूदा सब्बस्सवि कामभोगबंधकहा ।

एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विभत्तस्स ॥

—समयसार गा० ४ ।

होनेके कारण लक्षव्यापी लक्षण हो सकता है। यह शंका नहीं की जा सकती कि 'सिद्ध अवस्था भी अपनी पूर्वकी संसारी निगोद आदि अवस्थाओंमें नहीं पाई जाती, अतः वह शुद्धद्रव्यका लक्षण नहीं हो सकती', क्योंकि यहाँ सिद्धपर्यायको लक्षण नहीं बनाया जा रहा है, लक्षण तो वह द्रव्य है जो सिद्धपर्यायमें पहली बार विकसित हुआ है और चूँकि उस अवस्थासे लेकर आगेकी अनन्तकालभावी समस्त अवस्थाओंमें कभी भी परनिमित्तक किसी भी अन्य परिणमनकी संभावना नहीं है, अतः वह 'चित्' अंश ही द्रव्यका यथार्थ परिचायक होता है। शुद्ध और अशुद्ध विशेषण भी उसमें नहीं लगते, क्योंकि वे उस अखण्ड चित्का विभाग कर देते हैं। इसलिये कहा है कि मैं अर्थात् 'चित्' न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त, न तो अशुद्ध है और न शुद्ध, वह तो केवल 'ज्ञायक' है। हाँ, उस शुद्ध और व्यापक 'चित्' का प्रथम विकास मुक्त अवस्थामें ही होता है। इसीलिये आत्माके विकारी रागादिभावोंकी तरह कर्मके उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षयसे होनेवाले भावोंको भी अनादि-अनन्त सम्पूर्ण द्रव्यव्यापी न होनेसे आत्माका स्वरूप या लक्षण नहीं माना गया और उन्हें भी वर्णादिकी तरह परभाव कह दिया गया है। न केवल उन अव्यापक परनिमित्तक रागादि विकारी भावोंको 'पर भाव' ही कहा गया है, किन्तु पुद्गलनिमित्तक होनेसे 'पुद्गलकी पर्याय' तक कह दिया गया है।

तात्पर्य इतना ही है कि—ये सब बीचकी मंजिलें हैं। आत्मा अपने अज्ञानके कारण उन-उन पर्यायोंको धारण अवश्य करता है, पर ये सब शुद्ध और मूलभूत द्रव्य नहीं हैं। आत्माके इस त्रिकालव्यापी स्वरूपको आचार्यने इसीलिये अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त विशेषणोंसे व्यक्त किया है^२। यानी एक ऐसी 'चित्' है जो अनादिकालसे अनन्तकाल तक अपनी प्रवहमान मौलिक सत्ता रखती है। उस अखंड 'चित्' को हम न निगोदरूपमें, न नारकादि पर्यायोंमें, न प्रमत्त, अप्रमत्त आदि गुणस्थानोंमें, न केवलज्ञानादि क्षायिक भावोंमें और न अयोगकेवली अवस्थामें ही सीमित कर सकते हैं। उसका यदि दर्शन कर सकते हैं तो निरुपाधि, शुद्ध, सिद्ध अवस्थामें। वह मूलभूत 'चित्' अनादिकालसे अपने परिणामी स्वभावके कारण विकारी परिणमनमें पड़ी हुई है। यदि विकारका कारण परभावसंसर्ग हट जाय, तो वही निखरकर निर्मल, निर्लेप और खालिस शुद्ध बन सकती है।

तात्पर्य यह कि हम शुद्धनिश्चयनयसे उस 'चित्' का यदि रागादि अशुद्ध अवस्थामें या गुणस्थानोंकी शुद्धाशुद्ध अवस्थाओंमें दर्शन करना चाहते हैं तो इन सबसे दृष्टि हटाकर हमें उस महाव्यापक मूलद्रव्यपर दृष्टि ले जानी होगी और उस समय कहना ही होगा कि 'ये रागादि भाव आत्माके यानी शुद्ध आत्माके नहीं हैं, ये तो विनाशी हैं, वह अविनाशी अनाद्यनन्त तत्त्व तो जुदा ही है।

समयसारका शुद्धनय इसी मूलतत्त्वपर दृष्टि रखता है। वह वस्तुके परिणमनका निषेध नहीं करता और न उस चित्के रागादि पर्यायोंमें रुलनेका प्रतिषेधक ही है। किन्तु वह कहना चाहता है कि 'अनादिकालीन अशुद्ध किट्ट-कालिमा आदिसे विकृत बने हुए इस सोनेमें भी उस १०० टंचके सोनेकी शक्तिरूपसे विद्यमान आभापर एकबार दृष्टि तो दो, तुम्हें इस किट्ट-कालिमा आदिमें जो पूर्ण सुवर्णत्वकी बुद्धि हो रही है, वह अपने-आप हट जायगी। इस शुद्ध स्वरूपपर लक्ष्य दिये बिना कभी उसकी प्राप्तिकी दिशामें प्रयत्न

१. "ण वि हौदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।

एवं भणति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चव ॥६॥" —समयसार ।

२. "जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठे अणणयं णियदं ।

अयिसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥" —समयसार ।

नहीं किया जा सकता। वे अबद्ध और अस्पष्ट या असंयुक्त विशेषणसे यही दिखाना चाहते हैं कि आत्माकी बद्ध, स्पष्ट और संयुक्त अवस्थाएँ बीच की हैं, ये उनका त्रिकालव्यापी मूल स्वरूप नहीं हैं।

उस एक 'चित्' का ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपसे विभाजन या उसका विशेषरूपसे कथन करना भी एक प्रकारका व्यवहार है, वह केवल समझने-समझानेके लिये है^१। आप ज्ञानको या दर्शनको या चारित्रको भी शुद्ध आत्माका असाधारण लक्षण नहीं कह सकते; क्योंकि ये सब उस 'चित्' के अंश हैं और उस अखंड तत्त्वको खंड-खंड करनेवाले विशेष हैं। वह 'चित्' तो इन विशेषोंसे परे 'अविशेष' है, 'अनन्य' है और 'नियत' है। आचार्य आत्मविश्वाससे कहते हैं कि 'जिसने इसको जान लिया उसने समस्त जिनशासनको जान लिया।'

निश्चयका वर्णन असाधारण लक्षणका कथन है

दर्शनशास्त्रमें आत्मभूत लक्षण उस असाधारण धर्मको कहते हैं जो समस्त लक्ष्योंमें व्याप्त हो तथा अलक्ष्यमें बिलकुल न पाया जाय। जो लक्षण लक्ष्यमें नहीं पाया जाता वह असम्भवि लक्षणाभास कहलाता है, जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोंमें पाया जाता है वह अतिव्याप्त लक्षणाभास है और जो लक्ष्यके एक देशमें रहता है वह अव्याप्त लक्षणाभास कहा जाता है। आत्मद्रव्यका आत्मभूत लक्षण करते समय हम इन तीनों दोषों का परिहार करके जब निर्दोष लक्षण खोजते हैं तो केवल 'चित्' के सिवाय दूसरा कोई पकड़में नहीं आता। वर्णादि तो स्पष्टतया पुद्गलके धर्म हैं, अतः वर्णादि तो जीवमें असंभव हैं। रागादि विभावपर्यायों तथा केवलज्ञानादि स्वभावपर्यायों, जिनमें आत्मा स्वयं उपादान होता है, समस्त आत्माओंमें व्यापक नहीं होनेसे अव्याप्त है। अतः केवल 'चित्' ही ऐसा स्वरूप है, जो पुद्गलादि अलक्ष्योंमें नहीं पाया जाता और लक्ष्यभूत सभी आत्माओंमें अनाद्यनन्त व्याप्त रहता है। इसलिये 'चित्' ही आत्म द्रव्यका स्वरूपभूत लक्षण हो सकती है।

यद्यपि यही 'चित्' प्रमत्त, अप्रमत्त, नर, नारकादि सभी अवस्थाओंको प्राप्त होती है, पर निश्चयसे वे पर्यायों आत्माका व्यापक लक्षण नहीं बन सकतीं। इसी व्याप्यव्यापकभावको लक्ष्यमें रखकर अनेक अशुद्ध अवस्थाओंमें भी शुद्ध आत्मद्रव्यकी पहिचान करानेके लिये आचार्यने शुद्ध नयका अवलम्बन किया है। इसीलिये 'शुद्ध चित्' का सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि रूपसे विभाग भी उन्हें इष्ट नहीं है। वे एक अनिर्वचनीय अखण्ड चित्को ही आत्मद्रव्यके स्थानमें रखते हैं। आचार्यने इस लक्षणभूत 'चित्' के सिवाय जितने भी वर्णादि और रागादि लक्षणाभास हैं, उनका परभाव कहकर निषेध कर दिया है। इसी दृष्टिसे निश्चयनयको परमार्थ और व्यवहारनयको अभूतार्थ भी कहा है। अभूतार्थका यह अर्थ नहीं है कि आत्मामें रागादि हैं ही नहीं, किन्तु जिस त्रिकालव्यापी द्रव्यरूप चित्को हम लक्षण बना रहे हैं उसमें इन्हें शामिल नहीं किया जा सकता।

वर्णादि और रागादिको व्यवहारनयका विषय कहकर एक ही श्लोकमें निषेध कर देनेसे यह भ्रम सहजमें ही हो सकता है कि 'जिस प्रकार रूप, रस, गन्ध आदि पुद्गलके धर्म हैं उसी तरह रागादि भी पुद्गलके ही धर्म होंगे, और पुद्गलनिमित्तक होनेसे इन्हें पुद्गलकी पर्याय कहा भी है।' इस भ्रमके निवारण-

१. 'ववहारेणुवादिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।

ण वि णाणं च चरित्तं ण दंसणं जाणगो शुद्धो ॥ ७ ॥—समयसार ।

के लिये निश्चयनयके दो भेद भी शास्त्रोंमें देखे जाते हैं^१—एक शुद्धनिश्चयनय और दूसरा अशुद्धनिश्चयनय । शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें 'शुद्ध चित्' ही जीवका स्वरूप है । अशुद्ध निश्चयनय आत्माके अशुद्ध रागादि-भावोंको भी जीवके ही कहता है, पुद्गलके नहीं । व्यवहारनय सद्भूत और असद्भूत दोनोंमें उपचरित और अनुपचरित अनेक प्रकारसे प्रवृत्ति करता है । समयसारके टीकाकारोंने अपनी टीकाओंमें वर्णादि और रागादिको व्यवहार और अशुद्धनिश्चयनयकी दृष्टिसे ही विचारनेका संकेत किया है^२ ।

पंचाध्यायीका नय-विभाग

पंचाध्यायीकार अभेदग्राहीको द्रव्यार्थिक और निश्चयनय कहते हैं तथा किसी भी प्रकारके भेदको ग्रहण करनेवाले नयको पर्यायार्थिक और व्यवहारनय कहते हैं । इनके मतसे^३ निश्चयनयके शुद्ध और अशुद्ध भेद करना ही गलत है । ये वस्तुके सद्भूत भेदको व्यवहारनयका ही विषय मानते हैं । अखण्ड वस्तुमें किसी भी प्रकारका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदिकी दृष्टिसे होनेवाला भेद पर्यायार्थिक या व्यवहारनयका विषय होता है । इनकी दृष्टिमें समयसारगत परनिमित्तक—व्यवहार ही नहीं; किन्तु स्वगत भेद भी व्यवहारनयकी सीमामें ही होता है ।^४ व्यवहारनयके दो भेद हैं—एक सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय । वस्तुमें अपने गुणोंकी दृष्टिसे भेद करना सद्भूत व्यवहार है । अन्य द्रव्यके गुणोंकी बलपूर्वक अन्यत्र योजना करना असद्भूत व्यवहार है । जैसे वर्णादिवाले मूर्त पुद्गलकर्मद्रव्यके संयोगसे होनेवाले क्रोधादि मूर्तभावोंको जीवके कहना । यहाँ क्रोधादिमें जो पुद्गलद्रव्यके मूर्तत्वका आरोप किया गया है—यह असद्भूत है और गुण-गुणीका जो भेद विवक्षित है वह व्यवहार है । सद्भूत और असद्भूत व्यवहार दोनों ही उपचरित और अनुपचरितके भेदसे दो-दो प्रकारके होते हैं । 'ज्ञान जीवका है' यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है तथा 'अर्थविकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है और वही जीवका गुण है' यह उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है । इसमें ज्ञानमें अर्थविकल्पात्मकता उपचरित है और गुण-गुणीका भेद व्यवहार है ।

अनगारधर्मावृत्त (अध्याय १ श्लो० १०४^५) आदिमें जो 'केवलज्ञान जीवका है' यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहार तथा 'मतिज्ञान जीवका है' यह उपचरित सद्भूत व्यवहारका उदाहरण दिया है; उसमें यह दृष्टि है कि शुद्ध गुणका कथन अनुपचरित तथा अशुद्ध गुणका कथन उपचरित है । अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय 'अबुद्धिपूर्वक' होनेवाले क्रोधादि भावोंको जीवका कहता है और उपचरित सद्भूत व्यवहारनय उदयमें आये हुए अर्थात् प्रकट अनुभवमें आनेवाले क्रोधादिभावोंको जीवके कहता है । पहलेमें वैभाविकी शक्तिका आत्मासे अभेद माना है । अनगारधर्मावृत्तमें 'शरीर मेरा है' यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारका तथा 'देश मेरा है' यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण माना गया है ।

पंचाध्यायीकार किसी दूसरे द्रव्यके गुणका दूसरे द्रव्यमें आरोप करना नयाभास मानते हैं । जैसे—वर्णादिको जीवके कहना, शरीरको जीवका कहना, मूर्तकर्म व्योका कर्ता और भोक्ता जीवको मानना, धन-

१. देखो,—द्रव्यसंग्रह गा० ४ ।

२. 'अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकमपिक्षया अभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञा लभते तथापि शुद्धनिश्चयनयापेक्षया व्यवहार एव इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहारनयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यम् ।'—समयसार तात्पर्यवृत्ति गा० ७३ ।

३. पंचाध्यायी १।६५९-६१ ।

४. पंचाध्यायी १।५२५ से ।

३३२ : डॉ० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य स्मृति-ग्रन्थ

धान्य, स्त्री आदिका भोक्ता और कर्ता जीवको मानना, ज्ञान और ज्ञेयमें बोध्यबोधक सम्बन्ध होनेसे ज्ञानको ज्ञेयगत मानना आदि ये सब नयाभास हैं ।

समयसारमें तो एक शुद्धद्रव्यको निश्चयनयका विषय मानकर बाकी परनिमित्तक स्वभाव या परभाव सभीको व्यवहारके गड्ढेमें डालकर उन्हें हेय और अभूतार्थ कहा है । एक बात ध्यानमें रखने की है कि नैगमादिनयोंका विवेचन वस्तुस्वरूपकी मीमांसा करनेकी दृष्टिसे है जब कि समयसारगत नयोंका वर्णन अध्यात्मभावनाको परिपुष्टकर हेय और उपादेयके विचारसे मोक्षमार्गमें लगानेके लक्ष्यसे है ।

